THE TIMES OF INDIA

Date:20-03-24

Hand In Guv

One governor quitting to fight polls isn't the issue. But it does frame the question about nature of governorships

TOI Editorials

Telangana governor and LG Puducherry Tamilsai Soundarajan has resigned – to contest in Lok Sabha elections from Tamil Nadu. Buzz is she'll contest from South Chennai, and that BJP's state unit sought her return.

Active netas | Governorship is no longer only a luxury retirement posting for party veterans and favourite officers. Tamilsai's not the first active neta to have become a governor, but she's certainly arare one in jumping back into the heat 'n dust of poll battle. The long forgotten Sarkaria Commission from 40 years ago, which reviewed Centre-state relations, had suggested minimum requirements to be governor. One of these was the person should not be an active politician.

Centre's person | Since governorship has invariably been bagged by political loyalists for decades, governors could rarely be accused of impartiality or neutrality in their approach to crises in state legislatures. Laws governing governors say they serve at the President's pleasure. In practice, they've always served at the governing party's convenience. Some have sought the post be abolished. Calls for reform in how governors are appointed get little hearing in politics. State govts are seldom consulted before appointing governors – that's another Sarkaria Commission idea that's been ignored.

Court speak | Many states, with opposition parties governing, have had run-ins with governors. Governors are accused of stalling passage of bills, among other things. SC has been clear governors' actions cannot undermine democratic tenets. On Uddhav-led govt's fall in Maharashtra, SC said, "Governor cannot enter into any area by which his action would precipitate the fall of a government."

Tamilsai's return to active politics by itself is not the issue – nothing bars her. But it does frame the question about the nature of governorships.

THE ECONOMIC TIMES

Date:20-03-24

Need to Pull Up Those Pill-Pushers

ET Editorials

A health problem can push many into economic dire straits. So, while it is imperative to have a state-run, robust basic health system and an insurance web in place, it is also critical to ensure that medical practitioners don't overprescribe medicines, or limit prescriptions to only a few brands, in exchange for favours, whether in cash or kind, from any pharma company. Unfortunately, this kind of quid pro quo between doctors and pharma firms is not unknown. To stop such unethical practices, GoI recently notified a Uniform Code for Pharmaceutical Marketing Practices (UCPMP) to prohibit companies from organising workshops abroad for healthcare professionals or offering them hotel stays, expensive cuisine or monetary grants. It also bans free samples for those who are not qualified to prescribe such medicines.

The controversy surrounding Dolo-650 in 2022 is one example that highlighted the nexus between companies and unethical marketing practices. CBDT had accused the makers of Dolo-650 of indulging in 'unethical practices' and distributing freebies worth about ₹1,000 cr to medical professionals in exchange for promoting its products during the pandemic. The company was cleared of charges later, but the case opened a can of worms.

Pharma companies have been following a code for marketing practices since 2015, but that was voluntary. The new code is quasi-statutory. While pharma associations will have to create an ethics panel, the department of pharmaceuticals will have auditors who will investigate such expenditures. Will this work? Not unless pharma companies, associations and medical professionals really want to make it work — because there is still no watertight law clamping down on such transactions.

दैनिक भास्कर

Date:20-03-24

मानव विकास के पैमाने पर हम क्यों पीछे हैं?

संपादकीय

यूएनडीपी ने मानव विकास सूचकांक (एचडीआई) जारी किया है। सरकारी दावों के विपरीत भारत फिर 193 देशों में 134वें स्थान पर ठहरा है। एक साल पहले भारत 192 देशों में 135वें क्रम पर था। जीडीपी में दुनिया की पांचवीं सबसे बड़ी इकोनॉमी भारत अगर मानव विकास सूचकांक में पिछले 34 वर्षों से 131-135वें स्थान पर झूल रहा हो तो क्या इसे सही मायनों में विकास कहा जा सकता है? यह सूचकांक तीन पैमानों- शिक्षा, स्वास्थ्य और प्रति व्यक्ति आय (और उनके कई उप-पैमानों) के आधार पर बनता है। अन्य देशों के मुकाबले हम कुछ उप-पैमानों में बेहतर हुए हैं लेकिन कई अन्य पर और नीचे गए हैं। लिहाजा 134वें स्थान पर रहना भारी चिंता की बात है। अगर बहु-आयामी गरीबी सूचकांक के आधार पर देश में केवल पांच करोड़ ही गरीब रह गए हों या पिछले दस साल में 14 करोड़ गरीबी रेखा से बाहर आए हैं तो यूएनडीपी को यह बात क्यों नहीं समझ में आती? क्या हमारी गणना में कोई खोट है ? पिछले 34 साल से पूरी दुनिया में विकास का आधार मानव विकास सूचकांक (एचडीआई) है। अगर इस पर कई छोटे देश लगातार बेहतर करते हुए भारत को पीछे छोड़ रहे हों तो हमारे योजनाकारों को आधारभूत नीति बदलनी होगी। क्या डिलीवरी नहीं हो रही है ? क्या लाभ, लक्षित लोगों तक नहीं पहुंच रहा है? या क्या बढ़ती गरीब-अमीर की खाई के कारण प्रति-व्यक्ति आय तो बढ़ जाती है लेकिन बच्चे स्कूल में केवल दोपहर का खाना, ड्रेस और साइकिल और किताब के पैसे लेने जाते हैं? और क्या रोजगार के अभाव में वे इतने दशकों बाद भी निम्न मजदूरी वाले कामों से ही जीवनयापन करते हैं, जैसा कि ताजा पीएलएफएस रिपोर्ट बताती है? ग्रामीण युवाओं को तकनीकी शिक्षा देकर बाहर लाना और उद्यमिता को बढ़ावा देना ही एकमात्र रास्ता है।

दैनिक जागरण

Date:20-03-24

गोपनीयता के आवरण में चुनावी चंदा

सुरेंद्र किशोर, (लेखक राजनीतिक विश्लेषक एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। लोकतंत्र की सफलता चुनावी प्रक्रिया में स्वतंत्रता, पारदर्शिता एवं निष्पक्षता से निर्धारित होती है। चूंकि चुनाव एक खर्चीली प्रक्रिया भी है तो इस कारण इसमें चुनावी चंदे की भूमिका अहम हो जाती है। इसी चंदे से जुड़े चुनावी बांड का मुद्दा इन दिनों सुर्खियों में छाया हुआ है। भारत में देसी-विदेशी चुनावी चंदे को लेकर पर्दादारी की परपंरा दशकों पुरानी है। विदेशी चंदे के बारे में 1967 में तत्कालीन केंद्रीय गृहमंत्री यशवंतराव बलवंतराव चव्हाण ने लोकसभा में यह जानकारी दी थी, 'इस देश के राजनीतिक दलों को मिले विदेशी चंदे के बारे में भारत के केंद्रीय गुप्तचर विभाग की रपट को प्रकाशित नहीं किया

जाएगा, क्योंकि इसके प्रकाशन से अनेक व्यक्तियों और दलों के हितों की हानि होगी।' इससे पहले विपक्षी दलों के कुछ नेताओं ने उसके प्रकाशन की मांग की थी। इस प्रकार उस समय केंद्र में सत्तारूढ़ इंदिरा गांधी सरकार ने यह परंपरा स्थापित कर दी कि सियासी चंदे के मामले में देश को हानि भले हो जाए, लेकिन राजनीतिक दलों और नेताओं को कोई नुकसान नहीं होना चाहिए। वह परंपरा कमोबेश आज भी देश में कायम है। ऐसे में इस पुरानी मांग पर एक बार फिर गौर करने की जरूरत है कि मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों के चुनाव प्रचार के जरूरी खर्चे खुद सरकार उठाए। 1967 के आम चुनाव में सात राज्यों में कांग्रेस हार गई थी। तब तक लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव साथ-साथ ही होते थे। याद रहे कि 1967 में आम चुनाव के कुछ महीनों के भीतर दल-बदल के कारण दो अन्य राज्यों उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की कांग्रेस सरकारें भी गिर गई थीं। उसके बाद वहां भी गैर-कांग्रेसी सरकारें गठित हो गई थीं। चौथे आम चुनाव में लोकसभा में भी कांग्रेस का बहुमत कम हो गया था। यानी, आज का यह तर्क सही नहीं है कि विविधताओं वाले इस देश में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग ही होने चाहिए। जब साथ चुनाव होने पर भी परिणाम अलग-अलग आते ही थे तो एक बार फिर एक ही साथ चुनाव कराने में नुकसान क्या है? असल में इसके लाभ अधिक हैं।

अतीत की ओर देखें तो 1967 की चुनावी हार पर तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी चिंतित हो उठी थीं। पहले से ही उन्हें यह अपुष्ट खबर मिल रही थी कि इस चुनाव में विदेशी धन का इस्तेमाल हुआ है। तब इंदिरा गांधी को ऐसा लगा कि विदेशी धन सिर्फ विपक्षी दलों को मिला। इंदिरा सरकार ने केंद्रीय गुप्तचर विभाग को इसकी जांच का जिम्मा सौंपा। जांच रपट सरकार को सौंप दी गई, लेकिन रपट को सरकार ने दबा दिया। ऐसा इसलिए, क्योंकि वह रपट सत्तारूढ़ दल के लिए भी असहज करने वाली थी। जांच के दौरान इस बात के भी सुबूत मिले थे कि कांग्रेस के ही कुछ नेताओं ने अमेरिका से तो कुछ दूसरे कांग्रेस नेताओं ने सोवियत संघ से पैसे लिए थे। इस रपट को बाद में अमेरिकी अखबार 'द न्यूयार्क टाइम्स' ने छाप दिया था। इस रपट के अनुसार सिर्फ एक राजनीतिक दल को छोड़कर लगभग सभी प्रमुख दलों ने विदेशी चंदा स्वीकार किया था। गुप्तचर विभाग की उक्त रपट के अनुसार अमेरिकी गुप्तचर एजेंसी और कम्युनिस्ट दूतावासों ने राजनीतिक दलों को काफी पैसे दिए। उन दिनों विश्व के दो खेमों के बीच शीत युद्ध जारी था। कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिस्ट देशों ने भारत में अपने-अपने खास समर्थक बना रखे थे। यह किसी से छिपा नहीं रहा कि उस दौर में एक खेमे का नेतृत्व अमेरिका और दूसरे खेमे का नेतृत्व सोवियत संघ कर रहा था। न्यूयार्क टाइम्स की इस सनसनीखेज रपट पर 1967 के प्रारंभ में लोकसभा में बहुत तीखी बहस हुई। इसके परिणामस्वरूप तमाम भारतीय अखबारों में भी इस खबर को बाद में काफी कवरेज मिला। जो खबर न्यूयार्क टाइम्स ने ब्रेक की थी, वह खबर भारतीय मीडिया क्यों नहीं ब्रेक कर सका? क्या तब भी 'गोदी मीडिया' था? इस समय एक तबका गोदी मीडिया का आरोप भारतीय मीडिया को लेकर लगा रहा है। उन्हीं दिनों यह खबर भी आई थी कि इस देश के ही एक बड़े उद्योगपति ने तकरीबन पांच दर्जन सांसदों को अपने 'पे रोल' पर रखा हुआ था।

संसद में स्वतंत्र पार्टी के एक सदस्य ने गृहमंत्री चव्हाण से पूछा कि क्या वह गुप्तचर विभाग की रपट को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाएंगे ताकि राजनीतिक दलों को जनता के बीच सफाई पेश करने का मौका मिल सके? रपट के प्रकाशन से इनकार करते हुए चव्हाण ने यह जरूर कहा था कि केंद्र सरकार चुनाव आयोग की मदद से संतानम समिति के उस सुझाव पर विचार कर रही है, जिसमें विभिन्न राजनीतिक दलों को हरसंभव स्रोतों से प्राप्त होने वाली धनराशि की जांच की बात कही गई है। इस देश का दुर्भाग्य ही रहा कि जनता आज भी संतानम समिति की रपट को लागू करने की आस लगाए बैठी है।

समय के साथ राजनीति में काले धन के इस्तेमाल की खबरें बेहद आम होती गईं। कई मामलों में तो स्थिति यह हो गई है कि चुनाव में बाहुबल से अधिक प्रभावी भूमिका धनबल की होती जा रही है। कुछ समय पहले एक विधानसभा चुनाव में एक उम्मीदवार को दो हजार रुपये के नोट मतदाताओं के बीच बांटते हुए टीवी चैनलों पर दिखाया गया था। अब तो इस देश के छोटे-छोटे दलों के नेता भी चार्टर्ड प्लेन से घूम रहे हैं। चुनाव में काले धन के बढ़ते असर से राजनीति की शुचिता प्रभावित हो रही है। परिणामस्वरूप राजनीतिक कार्यपालिका भी दूषित हो रही है। प्रशासनिक कार्यपालिका के बारे में तो क्या ही कहा जाए। विशेषज्ञ बताते हैं कि एक स्तर पर भ्रष्टाचार विकास की गति को अपेक्षित रूप से बढ़ने नहीं दे रहा है। गुणात्मक एवं टिकाऊ ढांचा निर्माण की कोई गारंटी नहीं है। चुनावी चंदा भ्रष्टाचार का एक बड़ा स्रोत बना हुआ है। इसी को देखते हुए चुनावी चंदे में पारदर्शिता लाने के लिए चुनावी बांड की व्यवस्था की गई थी, लेकिन भली मंशा वाली यह योजना राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव में अपेक्षित परिणाम न देकर खुद विवादों के घेरे में घिर गई।

Date:20-03-24

नागरिकता कानून पर बेतुकी आपत्ति

राजीव सचान, (लेखक दैनिक जागरण में एसोसिएट एडिटर हैं)

सुप्रीम कोर्ट ने नागरिकता संशोधन कानून यानी सीएए पर रोक लगाने से मना कर वकीलों के उस समूह को कुछ समय के लिए ही सही, अवश्य निराश किया होगा, जिन्होंने शीर्ष अदालत को एक तरह से तीसरे और सर्वोच्च सदन में बदल दिया है। इस कानून के खिलाफ करीब दो सौ से अधिक याचिकाएं दायर की गई हैं। इनमें एक याचिका उस इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग की भी है, जो मोहम्मद अली जिन्ना की मुस्लिम लीग का छद्म रूप है। स्पष्ट है कि इतनी अधिक याचिकाओं के कारण नागरिकता कानून की संवैधानिकता पर लंबी सुनवाई चलेगी। सीएए पर आपत्तियों की कमी नहीं। एक आपत्ति यह है कि इस कानून के तहत अफगानिस्तान, पाकिस्तान और बांग्लादेश के मुसलमानों को भारतीय नागरिक बन सकने की वैसी सुविधा नहीं दी गई, जैसी इन देशों के हिंदुओं, सिखों, जैनों, बौद्धों, पारसियों और ईसाइयों को दी गई है। प्रश्न यह है कि क्या भारत का संविधान देश के बाहर के लोगों पर भी लागू होता है? यह प्रश्न इसलिए, क्योंकि नागरिकता कानून का तो भारत के किसी नागरिक से लेना-देना ही नहीं। इसका संबंध तो केवल तीन पड़ोसी देशों के लोगों से है। सीएए पर बहस के बीच यह सवाल उठना ही चाहिए कि क्या एक संप्रभु राष्ट्र के रूप में भारत को यह तय करने का अधिकार नहीं कि वह किन देशों के लोगों को सरलता से नागरिकता दे और किन देशों के लोगों को अलग प्रक्रिया का पालन करके?

कहना कठिन है कि नागरिकता कानून के तहत तीन पड़ोसी देशों के मुसलमानों को नागरिकता देने के लिए अलग और वहां के हिंदुओं, सिखों, जैनों, बौद्धों, पारसियों और ईसाइयों के स्तर पर अलग नियमों को लेकर उठाए जा रहे प्रश्नों पर सुप्रीम कोर्ट किस नतीजे पर पहुंचेगा, लेकिन क्या यह विचित्र नहीं कि सीएए को लेकर तो यह जिद की जा रही है कि भारत के तीन पड़ोसी देशों के बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों को एकसमान अधिकार दिए जाएं, लेकिन बड़ी चतुराई से इसकी अनदेखी की जा रही है कि देश के नागरिकों पर लागू होने वाले कई कानून ऐसे हैं, जो उनमें खुला भेद करते हैं और तार्किक वर्गीकरण के संवैधानिक सिद्धांत का भी उल्लंघन करते हैं। ऐसा ही एक कानून है, शिक्षा अधिकार कानून।

इस कानून के तहत बहुसंख्यकों के शिक्षा संस्थान अलग नियमों से संचालित हो रहे हैं और अल्पसंख्यकों के अलग नियमों से। आखिर सबको शिक्षित करने के अभियान में सभी समुदायों के शिक्षा संस्थानों को एकसमान तरीके से सहयोग क्यों नहीं देना चाहिए? क्या कारण है कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय उस तरह संचालित नहीं होता, जैसे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय संचालित किया जा रहा है? क्या सीएए को विभेदकारी बताने वाले यह कहने का साहस करेंगे कि अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के शिक्षा संस्थानों के संचालन के तौर-तरीके अलग-अलग नहीं होने चाहिए?

आम तौर पर जिन्हें नागरिकता कानून में खोट नजर आती है, उन्हें ही समान नागरिक संहिता का विचार डराता है या फिर यह कहें कि इस संहिता पर कोई पहल होते ही वे अपने समुदाय के लोगों को डराने में लग जाते हैं। आखिर देश के बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों को विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, गोद लेने आदि के अधिकार एकसमान क्यों नहीं होने चाहिए? आखिर देश के सभी नागरिकों में भेद न करने वाली समान नागरिक संहिता के मामले में देश के बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों में भेद करने की जिद क्यों की जा रही है? कायदे से समान नागरिक संहिता का निर्माण आजादी के बाद तभी हो जाना चाहिए था, जब हिंदू कोड बिल लाया गया था। यह बिल हिंदू समुदाय की कुरीतियों को दूर करने के लिए लाया गया था, लेकिन क्या कुरीतियां केवल हिंदू समाज में ही थीं? क्या जैसे सामाजिक सुधार की आवश्यकता हिंदू समुदाय को थी, वैसी ही अन्य समुदायों को नहीं थी? प्रश्न यह है कि क्या यह अब भी नहीं है? भारत के अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों में भेद करने वाला एक कानून वह भी है, जो सरकारों को हिंदू मंदिरों पर नियंत्रण करने और उन पर टैक्स लगाने का अधिकार देता है। ऐसा कोई कानून अन्य धार्मिक स्थलों को लेकर नहीं है। क्यों नहीं है, इसका जवाब किसी के पास नहीं। या तो ऐसा कोई कानून सभी समुदायों के धार्मिक स्थलों को लेकर होना चाहिए या फिर मंदिरों को सरकारी कब्जे से मुक्त किया जाना चाहिए। क्या ऐसा कुछ है कि अन्य समुदाय यानी अल्पसंख्यक तो अपने धार्मिक स्थलों का नियमन और संचालन करने में सक्षम हैं, लेकिन हिंदू समुदाय अर्थात बहुसंख्यक समाज ऐसा करने में नाकारा है? आखिर तथाकथित सेक्युलर भारत के अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों में ऐसा खुला भेद करने वाला कोई कानून अस्तित्व में क्यों है? क्या इस कानून को तार्किक वर्गीकरण या उचित विभेद वाले कानून की वैसी ही संज्ञा दी जा सकती है, जैसी आरक्षण संबंधी कानूनों के मामले में दी जाती है?

नागरिकता संशोधन कानून के दायरे में तीन पड़ोसी देशों के बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों में भेद न करने की मांग करने वाले भारत के विभाजन की परिस्थितियों की भी अनदेखी कर रहे हैं। आखिर जिन लोगों ने वोट के जरिये और साथ ही जोर-जबरदस्ती का सहारा लेकर भारत का विभाजन कराया, उनमें और उन लोगों में तार्किक-उचित विभेद क्यों नहीं किया जाना चाहिए, जिन पर पाकिस्तान जबरन थोपा गया? ये वे अभागे लोग हैं, जिनके बारे में यह कहना कठिन है कि वे पाकिस्तान और बांग्लादेश में कब तक बचे रहेंगे। सवाल यह भी है कि क्या भारत कोई धर्मशाला है, जो हर किसी को अपने यहां आने और बस जाने की सहूलियत दे दे। वैसे धर्मशाला के भी अपने नियम होते हैं।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:20-03-24

एमइसएमआई और निर्यात अवसर

संपादकीय

सूक्ष्म, लघु और मझोले उपक्रम (एमएसएमई) क्षेत्र में यह संभावना है कि वह निर्यात को बढ़ावा देकर तथा देश की आर्थिक गतिविधियों में योगदान करके देश के विकास के इंजन की भूमिका निभा सके। बहरहाल देश के निर्यात में इसकी हिस्सेदारी कम हो रही है और यह वित्त वर्ष 20 के 49.77 फीसदी से कम होकर वित्त वर्ष 23 में 42.67 फीसदी रह गई है। नीति आयोग की एक हालिया रिपोर्ट इस संदर्भ में उपायों की एक श्रृंखला प्रस्तावित करती है ताकि एमएसएमई के निर्यात में इजाफा किया जा सके।एमएसएमई को अंतरराष्ट्रीय बाजार में कारोबार में सहायता पहुंचाकर उनके राजस्व में विविधता लाई जा सकती है और उनकी प्रतिस्पर्धी क्षमता में इजाफा किया जा सकता है। इसके साथ ही नवाचार और रोजगार बढ़ाने में भी इससे मदद मिल सकती है। रिपोर्ट ऐसे कई क्षेत्रों को चिह्नित करती है जहां एमएसएमई विश्व स्तर पर प्रतिष्ठा हासिल कर सकते हैं। इनमें हस्तकला, हथकरघे पर बुना कपड़ा, आयुर्वेद और जड़ी बूटियों से बनने वाले पूरक आहार, चमड़े की वस्तुएं, नकली आभूषण और लकड़ी से बनने वाले उत्पाद शामिल हैं। ऐसा इसलिए कि इनमें निर्माण की पारंपरिक तकनीक और कला का इस्तेमाल किया जाता है तथा इनका विरासती मूल्य भी है।

वैश्विक स्तर पर इन क्षेत्रों का बाजार 340 अरब डॉलर से अधिक है। हालांकि भारत में श्रमिकों की प्रचुरता है परंतु इसके प्रतिस्पर्धियों मसलन वियतनाम, चीन और बांग्लादेश ने कम कौशल वाले वस्तु निर्यात में अच्छी खासी बढ़त हासिल कर ली है। इस संदर्भ में एमएसएमई की क्षमताओं का इस्तेमाल कम कौशल वाले क्षेत्रों में भारत के निर्यात को बढ़ावा दे सकता है। कम कौशल वाले विनिर्मित उत्पादों के वैश्विक निर्यात में भारत की हिस्सेदारी महज 5 फीसदी के करीब है। यह दिलचस्प है कि हाल के दिनों में ई-कॉमर्स मार्केटप्लेस में सफलता भारत के पक्ष में गई है। ऐसा देश और विदेश दोनों स्थानों पर हुआ है। डिजिटल प्लेटफॉर्मों ने भी अबाध निर्यात को मदद पहुंचाई है और व्यापक बाजार पहुंच में सहायता की है। वर्ष 2021 तक सालाना करीब एक लाख भारतीय निर्यातक इन प्लेटफॉर्मों का इस्तेमाल कर रहे थे। जिससे कुल मिलाकर 5 अरब डॉलर से अधिक का निर्यात राजस्व हासिल हो रहा था। इसके बावजूद एमएसएमई के डिजिटल प्लेटफॉर्म पर अपने उत्पाद बेचने को लेकर नियामकीय बाधाएं मौजूद हैं। उदाहरण के लिए देश में शुल्क रियायत और निर्यात प्रोत्साहन प्रक्रियाओं में मोटे तौर पर निर्यात के समय माल ढुलाई के कार्गो स्वरूप को पहचाना जाता है। इससे कूरियर से निर्यात करने वाले ई-कॉमर्स निर्यातकों के लिए निर्यात प्रोत्साहन पाना मुश्किल हो जाता है। इसके अलावा बाजार शोध के लिए मंगाए गए नमूने अथवा ई-कॉमर्स में नकारी गई वस्तुएं जो वापस की जाती हैं या ऑनलाइन बिक्री में नहीं बिकने वाली वस्तुओं को दोबारा आयात करने पर आयात शुल्क लगाया जाता है। ऐसी बाधाएं एमएसएमई कंपनियों के मुनाफे पर असर डालती हैं। ऐसे में एमएसएमई निर्यात को बढ़ावा देने के लिए व्यापक रणनीति बनाने की आवश्यकता है जिसमें ऐसे प्रोत्साहन हों जो ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्मों को बिना नियामकीय बाधाओं के काम करने की इजाजत देते हों।

समस्याओं का यहीं अंत नहीं होता। कुल एमएसएमई में से करीब 90 फीसदी सूक्ष्म उपक्रमों के रूप में दर्ज हैं और उनमें बड़े पैमाने पर काम करने की क्षमता नहीं है। भारत में मौजूदा नीतिगत परिदृश्य ऐसा है जहां एमएसएमई को छोटे पैमाने पर काम करने को प्रोत्साहित किया जाता है जिससे यह समस्या बरकरार है। औद्योगिक विवाद अधिनियम (आईडीए), 1947 तथा अन्य श्रम कानून भी एक वजह है। हालांकि श्रम कानूनों को संसद ने सुसंगत बनाया लेकिन उनका क्रियान्वयन नहीं किया गया। इसके अलावा निर्यात के काम में बड़े पैमाने पर कागजी कार्रवाई की आवश्यकता होती है, ऋण तक पहुंच बनाने में दिक्कत होती है और लक्षित बाजार के बारे में सीमित जानकारी भी देश में एमएसएमई की निर्यात क्षमता को प्रभावित करती है। इन गतिरोधों को दूर करने के बाद ही एमएसएमई क्षेत्र के निर्यात प्रदर्शन में सुधार किया जा सकता है। रिपोर्ट में एआई इंटरफेस वाले एकीकृत पोर्टल की बात की गई है ताकि एमएसएमई तक सूचनाएं प्रसारित हो सकें। कार्यशील पूंजी की मदद से निर्यात ऋण गारंटी को बढ़ावा दिया जा सकता है। सामान्य तौर पर वित्त तक पहुंच बढ़ाकर तथा सूचनाओं की विसंगति को कम करे एमएसएमई के निर्यात को गति प्रदान की जा सकती है।

जनसत्ता

Date:20-03-24

निष्पक्षता का तकाजा

संपादकीय

आम चुनाव की तारीखों का एलान करने के साथ ही निर्वाचन आयोग ने गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड के गृह सचिवों को हटाने का निर्देश जारी कर दिया। इसके अलावा मिजोरम और हिमाचल प्रदेश के सामान्य विभाग के सचिवों को भी हटाने का आदेश दे दिया। अब इस फैसले को राजनीतिक रंग देने की कोशिश की जा रही है। खासकर पश्चिम बंगाल सरकार इसे लेकर पक्षपात का आरोप लगा रही है। हालांकि चुनाव की तारीखें घोषित होने से पहले ही निर्वाचन आयोग ने सभी राज्य सरकारों को निर्देश दिया था कि वे चुनाव संबंधी कार्यों से जुड़े उन अधिकारियों का तबादला करें, जिन्होंने अपने पद पर तीन वर्ष का समय पूरा कर लिया है या जो अपने गृह जिलों में तैनात हैं। मगर राज्य सरकारों ने उस निर्देश पर अमल नहीं किया था। उत्तर प्रदेश सरकार भी नहीं चाहती थी कि उसके गृह सचिव को हटाया जाए, मगर निर्वाचन आयोग ने उसकी दलील नहीं मानी। छिपी बात नहीं है कि चुनाव में शीर्ष अधिकारियों की बड़ी भूमिका होती है। गृह सचिव राज्यों में और जिलाधिकारी जिलों में निर्वाचन आयोग के प्रतिनिधि होते हैं। इसलिए अगर वे निष्पक्ष नहीं होंगे, तो उन जगहों पर चुनाव प्रक्रिया की निष्पक्षता पर सवाल उठेंगे ही। इसलिए निर्वाचन आयोग ने छह राज्यों के गृह सचिवों और पश्चिम बंगाल के पुलिस आयुक्त को हटा दिया।

हालांकि यह न तो पहली बार हुआ है और न कानून की नजर में कोई गलत कदम है। जहां भी निर्वाचन आयोग को लगता है कि कोई अधिकारी चुनाव में निष्पक्ष भूमिका नहीं निभा सकता या निभा रहा, तो वह उसे हटा कर उसकी जगह दूसरे अधिकारी को नियुक्त कर सकता है। राजनीतिक दलों की शिकायतों के मद्देनजर चुनाव प्रक्रिया के दौरान भी कई

बार अधिकारियों को बदल दिया जाता है। अभी जिन राज्यों के गृह सचिवों और पश्चिम बंगाल के पुलिस आयुक्त को हटाया गया, उनके बारे में पहले से राजनीतिक दल शक जाहिर कर रहे थे। उनकी संबंधित राज्य सरकारों के प्रति अधिक निष्ठा देखी जा रही थी। पश्चिम बंगाल के पुलिस आयुक्त तो काफी समय से विवादों में घिरे थे। उनके खिलाफ सीबीआइ ने शिकंजा कसने की कोशिश की थी, तब मुख्यमंत्री खुद धरने पर बैठ गई थीं। ऐसे में भला उन पर कैसे भरोसा किया जा सकता था कि वे स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने में सहयोग करेंगे, राज्य सरकार की मर्जी के अनुरूप काम नहीं करेंगे। उनके खिलाफ कांग्रेस ने भी शिकायत दर्ज कराई थी। उत्तर प्रदेश के गृह सचिव को लेकर भी इसी तरह की आशंकाएं जाहिर की जा रही थीं।

ऐसे समय में, जब विपक्षी दल मतदान मशीनों में गड़बड़ी की आशंका जताते हुए आंदोलन पर उतरे हुए हैं, बड़े जन समुदाय में भी चुनाव प्रक्रिया पर संदेह पैदा हो गया है, तब ऐसे अधिकारियों को उनके पद पर बनाए रखना किसी भी रूप में उचित नहीं कहा जा सकता, जिनका आचरण संदिग्ध माना जाता रहा है। मगर केवल इतने भर से चुनाव में निष्पक्षता की गारंटी सुनिश्चित नहीं हो जाती। निर्वाचन आयोग को यह भरोसा कायम करना होगा कि हटाए गए अधिकारियों की जगह जिन्हें नियुक्त किया गया है, वे वास्तव में पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे। जिस तरह की सक्रियता और प्रतिबद्धता वह अभी दिखा रहा है, उसे पूरी चुनाव प्रक्रिया के दौरान दिखानी पड़ेगी। आखिर स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव निर्वाचन आयोग की साख से जुड़ा विषय है।

Date:20-03-24

पुतिन की सत्ता

संपादकीय

रूस में राष्ट्रपति चुनाव के नतीजे अप्रत्याशित नहीं हैं। यह पहले से तय माना जा रहा था कि वहां व्लादिमीर पुतिन की एक बार फिर बड़ी जीत होगी। इसलिए जब पुतिन के भारी मतों के अंतर से राष्ट्रपति चुने जाने की घोषणा हुई, तो किसी को हैरानी नहीं हुई। गौरतलब है कि पुतिन को 87.29 फीसद वोट मिले। पिछली बार उन्हें 76.7 फीसद वोट मिले थे। यानी बीते कार्यकाल के दौरान रूस में उनके प्रभाव का और विस्तार हुआ है। हालांकि इसी बीच रूस को कोरोना महामारी सहित अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बहुस्तरीय चुनौतियों से जूझना पड़ा। रूस के सामने सबसे जटिल स्थिति यूक्रेन के साथ युद्ध की शुरुआत है, जो अब तीसरे साल में दाखिल हो चुकी है और उसके खत्म होने की फिलहाल कोई उम्मीद नहीं दिख रही। इस मुद्दे ने पुतिन को अपने सामने के मैदान को साफ करने में बड़ी भूमिका निभाई। आंतरिक मोर्चे पर रूस की अर्थव्यवस्था में मजबूती से लेकर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक ताकतवर देश के रूप में अपनी जगह बनाने का राजनीतिक असर भी चुनाव पर पड़ा और लोगों ने पुतिन को चुना। उनका यह कार्यकाल 2030 तक के लिए होगा।

रूस में जनमत संग्रह से 2020 में जो संविधान संशोधन कराया गया था, उसके तहत पुतिन अभी छह साल के दो और कार्यकाल या 2036 तक राष्ट्रपति बने रह सकते हैं। यह उनका पांचवां कार्यकाल है और अब तक आंतरिक मोर्चे पर उनके सामने किसी प्रतिद्वंद्वी के उभरने की स्थितियां बेहद मुश्किल रही हैं। पिछले कुछ वर्षों में जो इक्का-दुक्का विपक्षी स्वर उभरे, वे उनके सामने कोई चुनौती नहीं बन सके। एलेक्सी नवेलनी को पुतिन का सबसे कट्टर प्रतिद्वंद्वी माना

जाता था। राष्ट्रपति चुनाव शुरू होने के पहले ही जेल में उनकी मौत हो गई। इसी तरह अंतरराष्ट्रीय स्तर पर यूक्रेन के साथ युद्ध के सवाल पर रूस के खिलाफ बनने वाले मोर्चे से भी पुतिन को कोई खास नुकसान नहीं पहुंचा और तमाम झटकों के बावजूद उन्होंने अपनी वैश्विक धमक बनाए रखी। अब नए कार्यकाल की शुरुआत में ही उन्होंने जिस तरह तीसरे विश्वयुद्ध की आशंका जताई है, उसके मद्देनजर अंतरराष्ट्रीय कूटनीति के मोर्चे पर उनके रुख पर दुनिया की नजर रहेगी।

राष्ट्रीय सहारा

Date:20-03-24

पुतिन की जीत के मायने

संपादकीय

रूस के राष्ट्रपति ब्लादीमिर पुतिन पांचवी बार भारी मतों से चुनाव जीत गए हैं। उन्हें 87.29 फीसद वोट मिला। उनके पक्ष में सुनाया गया विराट जनादेश इस बात का संदेश है कि देश की राजनीतिक व्यवस्था पर उनका प्रभावी नियंत्रण है और वह सर्वाधिक लोकप्रिय नेता हैं। इससे यह भी जाहिर होता है कि रूस की जनता ने उनकी नीतियों का समर्थन किया है। भारत, चीन और उत्तर कोरिया सहित अनेक देश के नेताओं ने जीत पर उन्हें बधाई दी, जबकि पश्चिमी देशों ने चुनावों में धांधली का आरोप लगाकर उनकी जीत को खारिज कर दिया। अमेरिका और पश्चिमी देशों के पुतिन के साथ जिस तरह के तनावपूर्ण रिश्ते हैं उन्हें देखकर उनकी ओर से इसी तरह की प्रतिक्रिया का अनुमान था। चुनाव परिणामों के तुरंत बाद पुतिन ने अमेरिका के नेतृत्व वाले नाटो को कड़ी चेतावनी देते हुए कहा कि अगर पश्चिमी देशों ने यूक्रेन में अपनी सेना तैनात की तो तीसरा विश्व युद्ध अवशयंभावी है। रूसी राष्ट्रपति की यह कड़ी प्रतिक्रिया फ्रांस के राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रों के उस गैरजिम्मेदाराना बयान के संदर्भ में आई है जिसमें उन्होंने यूक्रेन में फ्रांस और नाटो के सैनिकों को तैनात करने के बारे में कहा था। अमेरिकी राष्ट्रपति जो बाइडन ने भी पुतिन को पिछले दिनों क्रूर, हत्यारा, तानाशाह और युद्ध अपराधी बताया था। राष्ट्रपति पुतिन अगले छह वर्षो तक मजबूती के साथ सत्ता में बने रहेंगे। अमेरिका और पश्चिमी देशों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। पुतिन के अधिकतर राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी और आलोचक या तो जेल में हैं या देश से निर्वासित। राष्ट्रपति चुनाव से पहले पुतिन के राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी अलेक्सी नवालनी की आर्कटिक जेल में मौत हो गई थी। उनकी पत्नी यूलिया ने उनकी मौत के लिए पुतिन को सीधे जिम्मेदार ठहराया था। बाइडन ने भी पुतिन के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। पश्चिमी देशों की मीडिया नवालनी को नागरिक स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की आजादी का योद्धा बता रहा है। लेकिन पुतिन इन आलोचनाओं से बेफिक्र हैं और आलाचकों के प्रति उदारवादी रुख अपनाए हुए हैं। शीत युद्ध के दौरान भी अमेरिका और रूस (तब सोवियत संघ) से संबंध तनावपूर्ण थे।

1962 में अमेरिका ने जब कम्युनिस्ट देश क्यूबा में मिसाइल तैनात किया तब भी सोवियत संघ और अमेरिका के बीच युद्ध की स्थिति बन गई थी। यूक्रेन-रूस युद्ध ने भी अमेरिका और रूस के संबंधों को बहुत तनावपूर्ण बना दिया है।